

आगमों के आलोक में—

श्रावकाचार : एक परिशीलन



☆ आर्या श्री चन्द्रावती जी म०, जैनसिद्धान्ताचार्य

□

दर्शन और जीवन

श्रावकधर्म श्रमण भगवान महावीर की एक अमूल्य देन है। धर्म के उच्चादर्श को जीवन के धरातल पर साक्षात्कार करने की यह सुन्दर से सुन्दर और सरल से सरल विधि है। दर्शन केवल कल्पना के सौन्दर्य तक सीमित नहीं है किंतु वह यथार्थ जीवन से उतना ही सम्बन्ध मानता है जितना कि सूर्य के साथ उसकी रश्मियों का है। दर्शन का सम्बन्ध जब जीवन के साथ एकाकार हो जाता है तब उस जीवन में एक अनुपम चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है। जैसे टेढ़ी-मेढ़ी अनमेल लकीरों को सुव्यवस्थित रूप देकर चित्रकार एक मनोहर चित्र की अभिव्यक्ति करता है और एक कलाकार अनगढ़ पाषाण से दर्शनीय प्रतिमा उत्कीर्ण करता है। श्रमण भगवान महावीर भी दर्शन के ऐसे अनुपम कलाकार थे जिन्होंने मृण्मय मानव में चैतन्य की मुक्त चेतना का आलोक प्रसारित किया। पाश्चात्य दार्शनिकों का यह अभिमत है कि कला कला के लिये है, जीवन के लिये उसका सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है। ऐसे ही अनेक भारतीय दार्शनिक भी यह मानते हैं कि दर्शन दर्शन के लिए है जीवन के लिए दर्शन की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं—ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है^१ यह ज्ञप्ति होने पर मुक्ति स्वतः हो जाती है किंतु जैनदर्शन यह मानता है कि इस ज्ञप्ति में भी एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके साथ जीवन का प्रत्येक क्षण जड़ता से मुक्त होकर चैतन्य की ज्ञानचन्द्रिका से जगमगा उठता है और वे विचार आचार में प्रत्यक्ष ओतप्रोत हो जाते हैं। जैनदर्शन में विद्या-अविद्या अर्थात् ज्ञान और अज्ञान को एक सम्यकाचार और मिथ्याचार की विधि में निहित किया है। वहाँ आचार को पाँच प्रकार से प्रदर्शित किया है, वह हैं “ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तपाचार एवं वीर्याचार।”^२

मुक्ति का पथिक

आत्मा अनन्तकाल से अनन्त आधि-व्याधि-उपाधि के दुःखों से संतप्त है। अतः प्रत्येक आत्मा उन दुःखों से मुक्ति चाहता है।^३ जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, इत्यादि अनेक असह्य दुःखों से संसारी आत्माएँ क्लेश पा रही हैं। श्रमण भगवान महावीर ने शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित विषयों को एकान्त दुःखप्रद माना है। आत्मा जब तक अज्ञान अवस्था में होता है तब तक दुःख के कारणों को सुख रूप समझकर उनका सम्मान करना है। किन्तु सम्यग्ज्ञान होने पर वही आत्मा यह समझ लेता है कि शरीर व इन्द्रियों के विषय क्षणमात्र सुख की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं और बहुत काल के लिए दुःखप्रद होते हैं, उनमें सुख अल्प है और दुःख अनन्त है, वे अनन्त मोक्ष सुख के प्रतिपक्षी हैं एवं अनर्थों की खान हैं ऐसे दुःखद कामभोगों से मुक्ति का साधक विरक्त हो जाता है।^४ संसार का मार्ग और मुक्ति का मार्ग—इन दोनों में पूर्व पश्चिम का अन्तर है। आत्मा जब मुक्तिपथ का पथिक होता है तो संसार के सुखों की ओर पीठ कर देता है। जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य उमास्वाति^५ ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य को मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है। उसमें आगे चलकर तीनों का विस्तृत विवेचन किया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र्य के अनेक भेद-प्रभेद करके समझाया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के पूरे दस अध्यायों में इन तीनों का विस्तार से वर्णन कर मोक्षमार्ग का स्वरूप बताया है अतः इस ग्रन्थ का नाम ही मोक्षशास्त्र हो गया है। इसमें ‘तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन’^६ कहा है तत्पश्चात् प्रत्यक्ष-परोक्ष पाँच प्रकार के ज्ञान का वर्णन है, वे हैं मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय एवं केवलज्ञान।^७ इसके प्रथम अध्याय में ज्ञान-दर्शन का विवेचन है तो द्वितीय में क्षायोपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावों से संपन्न शुद्ध व अशुद्ध जीव का वर्णन, तृतीय में

नरक, मनुष्य व चतुर्थ में देवगति के जीव, पाँचवें में षट्द्रव्य, षष्ठम में मन-वचन-काय-त्रियोग के कारण एवं सप्तम अध्याय में उससे निवृत्त होने के उपायस्वरूप देशविरति एवं सर्वविरतिचारित्र की व्याख्या की गई है। आठवें में कर्मबन्ध के हेतु, नौवें में संवर निर्जरा व ध्यान का स्वरूप व दसवें में मुक्ति का स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि इस मोक्षशास्त्र में मुक्तिमार्ग का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय में मोक्षमार्ग गति का विवेचन है। उसमें और इसमें बहुत अधिक साम्य है। मुक्ति के साधक के लिए ज्ञान-दर्शन जितने अपेक्षित हैं उतना ही चारित्र भी अपेक्षित है।¹ ज्ञान के द्वारा मुक्त जीव का स्वरूप समझा जाता है तो दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा विश्वास होता है तथा चारित्र के द्वारा अशुभ का निग्रह एवं तप के द्वारा पूर्णविशुद्धि प्राप्त होती है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, निरुद्देश्य कोई कार्य नहीं होता। आत्मा जब मुक्ति का पथिक होता है तो मुक्ति ही उसका अन्तिम ध्येय है, साध्य है, लक्ष्य एवं वही आराध्य व अन्तिम विश्रान्ति है। पथिक सदैव पथ पर चलता ही नहीं रहता, वह मन्जिल प्राप्त करने पर विश्रान्ति भी करता है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्ति का पथ है किन्तु उसकी भी एक निश्चित सीमा है जो कि चरम एवं परम है। यह मुक्ति का पथ आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है और न ही मुक्ति कहीं दूर है। एक दृष्टि से मुक्ति का पथ व मुक्ति का स्वरूप आत्मा का ही एक शुद्ध स्वरूप है अतः एक मुक्तात्मा व बद्धात्मा में शक्ति व अभिव्यक्ति का अन्तर है। जैसे मलयुक्त तन तथा वस्त्र वाले व्यक्ति में एवं स्नानयुक्त व्यक्ति में अन्तर होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्षमार्गगति अध्ययन में जो मुक्ति का मार्ग है वहीं उसका स्वरूप व लक्षण बताया है। अतः आत्मा मुक्ति का मार्ग एवं मुक्ति अपने आप में ही उपलब्ध करता है। क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण हैं अर्थात् शुद्धात्मा का अपना स्वरूप है। और जो आत्मा का स्वरूप है वह आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। अतः उसे बाहर ढूँढना व्यर्थ है। इस दृष्टि से श्रमण भी मुक्ति का पथिक है और श्रावक भी मुक्ति का पथिक है।² दोनों में इतना ही अन्तर है कि एक अपनी सम्पूर्ण शक्ति व सम्पूर्ण समय साधना में अर्पित करता है किन्तु द्वितीय आंशिक समय के लिए साधना में अपनी शक्ति लगाता है। अतः प्रथम को सर्वविरत एवं द्वितीय को देशविरत कहा जाता है। किन्तु दोनों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप व वीर्य आदि मुक्ति-मार्ग व साधन में एकता है, दोनों के साध्य साधन एक है। जैसे दो पथिक एक ही पथ पर चलते हैं। चाहे उनमें से एक वायुयान से चले और दूसरा बैलगाड़ी या पैदल यात्रा करें। किन्तु ये दोनों एक लक्ष्य व एक मन्जिल पर पहुँचने के इच्छुक हैं तो वे एक ही पथ के पथिक कहे जाते हैं। ऐसे ही श्रमण व श्रावक दोनों ही एक मुक्ति मार्ग के पथिक हैं।

श्रावकशब्द के पर्यायवाची

जैनदर्शन में 'श्रावक' शब्द उस विशिष्ट व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जो कि धर्म की आंशिक रूप से साधना करता है। स्थानांगसूत्र में धर्म के दो भेद बताये हैं—वे हैं श्रुतधर्म व चारित्रधर्म।³ उसमें प्रथम श्रुतधर्म के दो भेद हैं सूत्ररूप श्रुतधर्म व अर्थरूप श्रुतधर्म। तदन्तर द्वितीय चारित्रधर्म के दो भेद किये हैं—“आगार चारित्रधर्म व अनगार चारित्रधर्म।” आगार का अर्थ होता है 'गृह'। जो व्यक्ति गृह में रहता हुआ धर्म की साधना करता है उसके धर्म को आगार चारित्रधर्म कहते हैं।⁴ इसीलिए 'श्रावक' का एक पर्यायवाची शब्द आगारिक भी होता है।⁵ जैनागमों में अधिकतर श्रावक शब्द के लिए श्रावक एवं श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है। 'श्रावक' शब्द 'श्रु' धातु से निष्पन्न हुआ है उसका तात्पर्य है श्रद्धापूर्वक निष्पन्न प्रवचन सुनने वाला। किन्तु श्रावक केवल सुनता ही नहीं, यथाशक्ति उसका आचरण करता है अतः श्राद्धविधि ग्रन्थ में 'श्रावक' शब्द के तीन अक्षरों से तीन तात्पर्य बताये हैं, वह हैं 'श्रा' का अर्थ श्रद्धापूर्वक तत्त्वार्थ श्रवणकर्ता। 'व' का अर्थ सत्पात्रों में अशनादि दानरूप बीज का वपन करने वाला एवं 'क' का तात्पर्य सुसाधु की सेवा के द्वारा पापकर्म दूर करने वाला। इस प्रकार संक्षिप्त में 'श्रा'—श्रद्धावान 'व'—विवेकी 'क'—क्रियावान यह तीनों अक्षरों का तात्पर्य है।⁶ उत्तराध्ययनसूत्र में 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे—“चम्पानगर में पालित नाम का श्रावक रहता था।”⁷ भगवतीसूत्र व उपासकदसांगसूत्र में अनेक स्थलों पर श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग हुआ है जैसे “श्रावस्ती नगरी में बहुत शंख प्रमुख श्रमणोपासक निवास करते थे।”⁸ इस प्रकार “श्रावक” शब्द के श्रमणोपासक, आगारिक, देशविरत, गृहस्थधर्मी, बालपंडित, संयत्तासंयति, व्रताव्रती, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी इत्यादि अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं।

श्रावक की प्रतिज्ञाएँ

श्रावक-जीवन एक विशिष्टतम जीवन है। यह जीवन मानव को जन्म से ही प्राप्त नहीं होता अथवा किसी श्रावक



के कुल में जन्म लेने से कोई श्रावक नहीं कहला सकता। चाहे नाम से वह श्रावक कहा भी जाए किन्तु कर्म से वह श्रावक नहीं हो सकता। अतः श्रमणधर्म की तरह श्रावकधर्म की भी विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ की जाती हैं। श्रावकधर्म की प्रतिज्ञा ग्रहण करने पर उसको नवजीवन प्राप्त होता है। सूत्रों में श्रमणोपासक का नया जन्म माना जाता है। वह श्रमणोपासक जीव-अजीव का ज्ञाता होता है, पुण्य-पाप को समझकर अपने योग्य कर्म को करता है। उसका जीवन समाज की दृष्टि में विश्वासपात्र होता है। यदि वह राजाओं के अन्तःपुर में भी प्रवेश करे तो उसके चरित्र के प्रति सभी का आदर व विश्वास होता है। दानपात्र के लिए उसका गृह द्वार सदा अनावृत रहता है। श्रमण निर्ग्रन्थों को वह सदैव असन-पान खादिम, स्वादिम आहार व वस्त्र पात्र, निवासार्थ मकान, कम्बल, पादपीठ, औषधी आदि चौदह प्रकार का दान करके उनकी उपासना करता रहता है। अतः उसका श्रमणोपासक नाम एक सार्थक नाम है। श्रमणोपासकों के जीवन की विशिष्ट से विशिष्टतम चर्या का विवेचन उपासकदसांगसूत्र में सविस्तार दिया गया है। उस समय में वाणिज्यग्राम नगर के ईशान कोण में द्युतिपलाश नाम का उपवन था। वहाँ श्रमण भगवान महावीर स्वामी का पदार्पण हुआ। उनके प्रवचन को सुनकर आनन्द नामक गाथापति ने गृहस्थधर्म धारण करने की इच्छा प्रकट की और भगवान महावीर के साम्निध्य में उसने द्वादश प्रकार के गृहस्थधर्म की निम्न प्रतिज्ञाएँ कीं।

प्रथम अहिंसा-व्रत की प्रतिज्ञा

प्रथम अहिंसाव्रत में श्रावक स्थूलप्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है। यह प्रत्याख्यान यावज्जीवन के लिये दो करण तीन योग से किया जाता है।¹³ अर्थात् निरपराध त्रसजीव की हिंसा वह मन, वचन व काया इन तीन योगों से न करता है न कराता है। सूत्रकार ने प्रथम अहिंसा व्रत का नाम 'स्थूल प्राणातिपातत्रिरमण व्रत' बतलाया है इसका एक विशेष तात्पर्य है क्योंकि जीव तो त्रिकाल शाश्वत अजर अमर ध्रुव तत्त्व है उसका कभी अतिपात अर्थात् मृत्यु नहीं हो सकती अतः हिंसा करने वाला व्यक्ति जीवातिपात नहीं कर सकता किन्तु जीव के साथ जो शरीर इन्द्रियाँ आदि दस प्राण हैं, उन्हीं को अलग करता है। 'स्थूल' का तात्पर्य यहाँ पर 'निरपराध त्रसजीव' की हिंसा से है। क्योंकि जीव दो प्रकार के हैं—त्रस एवं स्थावर। इनमें से श्रावक स्थावर अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, एवं वनस्पति इन एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता। क्योंकि वह भिक्षा के द्वारा तो उदर-पोषण नहीं करता है अतः अन्नोत्पादन के लिये वह खेती करता है, उपवन लगाता है, कूप खुदवाता है, महल-भवन बनाता है, भोजन बनाता है विवाह में प्रीतिभोज आदि कार्य करता है। इनमें एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा अवश्यम्भावी है अतः वह त्रसजीव अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का त्याग करता है।¹⁴

सर्वविरति और देशविरति की अहिंसा में अन्तर

जैन श्रमण सर्वविरति साधक होता है उसकी अहिंसा परिपूर्ण होती है। वह त्रस एवं स्थावर—दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग करता है। श्रावक त्रसजीव की हिंसा का ही त्याग करता है अतः बीस विस्वा की अहिंसा में दस विस्वा की अहिंसा कम हो गई। त्रस की अहिंसा में भी दो भेद हैं—आरम्भजा और संकल्पी। श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है किन्तु खेत खोदते, मकान बनाते इत्यादि आरम्भ करते समय अनजान में त्रस की हिंसा हो सकती है अतः वह आरम्भजा हिंसा का भी त्याग नहीं कर सकता। स्थावर का आरम्भ करते समय त्रस की हिंसा अवश्यम्भावी है। अतः दस में पाँच विस्वा और कम हुए। आरम्भजा हिंसा के भी दो भेद हैं—सापराधी और निरपराधी। श्रावक केवल निरपराधी त्रसजीव की दया पालता है क्योंकि वह चोर को, व्यभिचारी को, हत्यारे को यथोचित दण्ड दे सकता है। यदि वह राजा हो या राजा का सैनिक हो तो अपने प्रतिपक्षी अन्यायी अपराधी राजा व उसकी सेना के साथ युद्ध भी करता है। भगवतीसूत्र में भगवान महावीर के शिष्य श्रमणोपासक महाराजा चेटक एवं उनके सैनिक वरुण नाग-नदुवा ने युद्ध किया था। अतः ५ विस्वा अहिंसा में ढाई विस्वा अहिंसा और कम हो गई। निरपराधी की हिंसा के भी दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष अर्थात् सकारण और अकारण, सप्रयोजन एवं निष्प्रयोजन। श्रमण दोनों तरह की अहिंसा का पालन करता है किन्तु श्रावक निष्प्रयोजन अहिंसा का पालन कर सकता है, सप्रयोजन अहिंसा का नहीं। जैसे हाथी को चलाते समय अंकुश लगाते हैं घोड़े को चाबुक, बैल को दण्ड प्रहार करते हैं अपने एवं अपने पारिवारिक जन एवं गाय बैल आदि पशु के शरीर में कृमि उत्पन्न होते हैं तो उनको औषधि प्रयोग से दूर करते हैं इससे ढाई विस्वा अहिंसा में भी उसके सवा विस्वा अहिंसा शेष रहती है। किन्तु जब कभी श्रावक सामायिकव्रत या प्रतिपूर्ण पौषध आदि विशेष प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो उस समय कुछ समय के लिये वह श्रमणव्रत परिपूर्ण अहिंसा का भी पालन कर सकता है इसीलिये उसकी अहिंसा भी देशविरति की अहिंसा है।

द्वितीय स्थूलमृषावादविरमणव्रत

प्रथम व्रत की प्रतिज्ञा के पश्चात् श्रावक द्वितीय व्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उसमें वह स्थूलमृषावाद का यावज्जीवन के लिये त्याग करता है।^{१९} स्थूल हिंसा-त्याग के सदृश ही वह दो करण व तीन योग से झूठ बोलने का त्याग करता है, अर्थात् न वह स्वयं स्थूलमृषा बोलता है और न किसी अन्य को बोलने के लिए प्रेरित करता है।

तृतीय अदत्तादान विरमणव्रत

तत्पश्चात् स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत की प्रतिज्ञा करता है। यावज्जीवन के लिये वह स्वयं न करता है न कराता है मन, वचन व काया से।

चतुर्थ स्वदार-संतोषव्रत

तत्पश्चात् श्रावक स्वस्त्री-संतोषव्रत की प्रतिज्ञा करता है एवं संसार की अन्य समस्त स्त्रियों का परित्याग करता है। आनन्द श्रावक ने एक अपनी शिवानन्दा पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था। स्व-स्त्री में भी संतोष अर्थात् मर्यादा रक्खी जाती है जैसे पर्वतिथियों एवं दिन के समय ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

पञ्चम इच्छापरिमाण अपरिग्रह व्रत

परिग्रह अनेक प्रकार के हैं किन्तु उसमें पाँच मुख्य हैं :—हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र, वास्तु, धन धान्य एवं कुविण अर्थात् कुर्सी, पलंग, आदि अनेक गृहोपयोगी आवश्यक सामग्री इन सभी की मर्यादा की जाती है।

षष्ठम दिशापरिमाणव्रत

इस व्रत में छह दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा की जाती है।

सप्तम उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत

अन्य ग्यारह व्रतों की अपेक्षा इस व्रत में जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा अत्यधिक विस्तार से बताई गई है। उपभोग का तात्पर्य है जो वस्तु एक बार ही उपयोग में आती है जैसे कि अन्न-जल आदि और परिभोग का तात्पर्य है एक ही वस्तु अनेक बार उपयोग में आ सके जैसे—मकान, वस्त्र, आभूषण स्त्री आदि। इस व्रत में विशेषतया छब्बीस प्रकार की वस्तुओं का वर्णन है वे निम्न हैं—

(१) उल्लग्न्याविहि—गीले शरीर को पोंछने के तौलिये आदि का परिमाण।

(२) दन्तवर्णविहि—दन्त शुद्ध करने के साधनों की संख्या की मर्यादा करना जैसे—नीम, जेठीमूल, बोर-जड़ी आदि।

(३) फलविहि—आम, अनार, अंगूर, पपीता, मोसम्बी, केला, निम्बु, जामुन, खरबूजा, तरबूजा आदि फलों की संख्या की सीमा रखना।

(४) अब्रगणविहि—मालिश करने के लिए शतपाक, सहस्रपाक, सरसों का तेल, आंवले का तेल आदि विलेपनीय वस्तुओं की नियमित संख्या रखना।

(५) उच्चट्टणाविहि—उद्वर्तन करना अर्थात् पीठी करने के द्रव्य गेहूँ, चने, जौ आदि का आटा केसर, चन्दन, बदाम क्रीम आदि वस्तुओं की अमुक संख्या रखना।

(६) मज्जणविहि—स्नान करने के लिए जल का नाप-तौल रखना जैसे घड़े, कलश, आदि संख्या में इतने लीटर जल।

(७) वस्त्रविहि—वस्त्रों की अनेक जातियाँ होती हैं जैसे—रेशम, सन, कपास आदि अथवा चीन, अमेरिका, यूरोप, जापान आदि अनेक देशों में उत्पन्न वस्त्रों की जाति की मर्यादा करना।

(८) विलेवणविहि—स्नान के पश्चात् देह सजाने के लिए केसर चन्दन तेल आदि लगाने की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना।

(९) पुष्पविहि—फूलों की अनेक जातियाँ हैं जैसे—गुलाब, चमेली, चम्पा, मोगरा, सूर्यमुखी आदि फूलों की निश्चित जाति संख्या में पहनने के लिए मर्यादा करना।

(१०) आभरणाविहि—शरीर को अलंकृत करने के लिए किरिट, कुण्डल, कंगन, करमुद्रिका आदि अनेक प्रकार के भूषण होते हैं उनकी संख्या में कमी करना।



- (११) घृवणविहि—महल सुवासित करने अगरबत्ती आदि घृप देने की वस्तुओं की संख्या कम करना ।
 (१२) भोयणविहि—पेय पदार्थों की मर्यादा ।
 (१३) भक्षणविहि—भक्ष्य—खाने योग्य वस्तुओं की संख्या नियमित करना ।
 (१४) ओदणविहि—चावल, खिचड़ी, दूधपाक, धूली, खीच, खीचड़ा, मक्की, गेहूँ, आदि का रोटी के अतिरिक्त खाद्य की मर्यादा करना ।
 (१५) सूवविहि—दालों की गिनती रखना जैसे—उड़द की दाल, मूंग की दाल, तुवर की दाल, मसूर की दाल आदि की मर्यादा ।
 (१६) धयविहि—घृत, दूध, दधि, गुड़, शर्करा, नवनीत आदि विगयों में प्रतिदिन एक या दो कम करके मर्यादा करना ।
 (१७) सागविहि—लौकी, टमाटर, भिण्डी, तुरई, ककड़ी इत्यादि सब्जियों की संख्या नियमित करना ।
 (१८) माहुराविहि—काजु, बिदाम, पिस्ता, अञ्जीर, चारोली आदि खाने के भेवा की संख्या नियमित रखना ।
 (१९) जेमणविहि—भोजन के पदार्थों की मर्यादा ।
 (२०) पाणियविहि—पीने के जल का प्रतिदिन नाप रखना ।
 (२१) सुहवासविहि—लौंग, इलायची, पान सुपारी आदि मुखशोधक पदार्थों की निश्चित संख्या रखना ।
 (२२) वाहणविहि—बैलगाड़ी, इक्का, रथ, मोटर, रेल, वायुयान, अश्व, गज, ऊँट, आदि यात्रा के वाहनों की संख्या का नियम ।
 (२३) उपानतविहि—पैर रक्षक जूते आदि ।
 (२४) शयनविधि—शय्या, पलंग आदि ।
 (२५) सच्चित्तविधि—सच्चित्त वस्तुओं की मर्यादा ।
 (२६) द्रव्यविधि—द्रव्यों की मर्यादा ।

अष्टम अनर्थदण्डविरमणव्रत

निरर्थक पापाचार से बचने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है । इस व्रत में चार तरह के कार्यों का त्याग किया जाता है, वह है—“अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान एवं पापकर्मोपदेश । (१) अपध्यानाचरित—अपने से प्रतिकूल व्यक्तियों के विनाश का विचार करना जैसे अमुक व्यक्ति का धन नष्ट हो जाय, पुत्र मर जायें इत्यादि क्रूर चिन्तन का परित्याग करना एवं अपने प्रियजनों की मृत्यु होने पर, सम्पत्ति का नाश होने पर निरर्थक चिन्ता में घुलते रहना इन दोषों से बचना इस व्रत का उद्देश्य है (२) प्रमादाचरित—शुभ कार्यों में आलस्य न करना (३) हिंस्र प्रदान—क्रूर व्यक्तियों को शिकार खेलने के लिए शस्त्रास्त्र देना (४) पापकर्मोपदेश—निरपराधी मनुष्य या पशु को हास्य या क्रीड़ा के लिए मारने का उपदेश करना या वेश्यावृत्ति को प्रेरणा देना ।”

व्रतों के अतिचार

अपने व्रतों की सुरक्षा करने के लिए श्रावक को उन व्रतों के दोषों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है । अतिचारों के सेवन करने पर श्रावक अपने व्रतों का आंशिक रूप से उल्लंघन करता है । उपासकदशांगसूत्र में श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने आनन्द श्रावक को श्रावकधर्म की प्रतिज्ञा कराते समय अपने श्रीमुख से द्वादशव्रतों के साठ अतिचारों का निरूपण किया है । उन्होंने कहा—स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रत के पाँच अतिचार श्रावक को जानने योग्य हैं किन्तु समाहत करने योग्य नहीं हैं, वे हैं—बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार एवं भक्तपान का विच्छेद ।^{२१}

(१) बन्ध—अपने आश्रित किसी भी मनुष्य या पशु को कठोर बन्धन में बाँधना, उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना, अधिक समय तक रोक रखना, अनुचर आदि को अवकाश के समय उसके घर नहीं जाने देना इत्यादि । विवाहोत्सव, मृत्युभोज, आदि सामाजिक उत्सवों में निर्धन व्यक्तियों पर अनुचित आर्थिक भार डालना भी एक सामाजिक बन्धन है । अतः शारीरिक बन्धन के अतिरिक्त वाचिक, मानसिक, वैचारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक कार्य भी बन्धन है ।

(२) वध—निरपराधी मनुष्य या पशु का क्रीड़ा हास्य तथा अन्य कारण से दण्ड, असि, आदि से गाढ़ प्रहार या सर्वथा प्राणरहित करना ।

(३) छविच्छेद—किसी भी प्राणी के अङ्गोपाङ्ग का छेदन करना अथवा किसी मनुष्य की आजीविका नष्ट करवाना । अधिक कार्य लेकर पारिश्रमिक कम देना इस व्रत के दोष हैं ।

(४) अहभारे—बैल, ऊँट, घोड़े आदि पशुओं पर उनकी शक्ति से अधिक भार लाद देना तथा अनुचर मनुष्यों से अधिक कार्य करवाना ।

(५) भक्षतपानविच्छेद—अपने आश्रित पशु या मनुष्यों को प्रमाण से कम भोजन पानी देना या अनुचर को कम वेतन देना इत्यादि । रुग्णता के समय वेतन या भोजनादि न देना ।

इसी प्रकार द्वितीय या स्थूल मृषावाद विरमणव्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक के जानने योग्य हैं किन्तु आदरने योग्य नहीं हैं, वे हैं—सहसाम्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमंत्रभेद, मिथ्योपदेश एवं कूटलेख प्रक्रिया ।^{२२} इनका तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार है—(१) किसी पर चोरी, व्यभिचार आदि का बिना निर्णय किये कलंक लगाना (२) किसी की रहस्यमय गुप्त बात जान-बूझकर प्रकट करना अर्थात् किसी के अपयश के उद्देश्य से अपने विश्वासपात्र व्यक्ति के साथ विश्वासघात करना (३) पति-पत्नी का पारस्परिक रहस्य उद्घाटन करना (४) हिंसा, असत्य, इत्यादि पाप कार्य में प्रवृत्ति का उपदेश करना (५) किसी को धोखा देने, झूठी लिखापट्टी, झूठे हस्ताक्षर आदि करना ।

स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत के पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं वे इस प्रकार हैं—(१) स्तेनाहृत—स्वयं चोरी न करके अन्य चोर से चुराई वस्तु अपने पास रखना । (२) तस्करप्रयोग—अन्य व्यक्तियों को चोरी करने को प्रेरणा देना । (३) विरञ्जराज्यातिशय—राज्य के न्याययुक्त नियमों का उल्लंघन करना, व्यापार आदि में राज्य का कर न चुकाना, राज्यकर्मचारी का रिश्वत खाना, अर्थलौभ के लिए अपने देश के अहित में देशविरोधी कार्य करना आदि-आदि कार्य । (४) कूटनुला-कूटमान—नाप-तोल में कम देना व अधिक लेना । (५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—वस्तु में मिलावट करना जैसे दूध में पानी, असली घृत में डालडा, चावल में सफेद कंकर, हल्दी में पीली मिट्टी, शुद्ध तैल में अन्य तैल आदि ।^{२३}

स्वदारसंतोषव्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) इत्वरिकपरिग्रहीतागमन—अल्पकाल के लिए धन देकर रक्खी हुई स्त्री से सहवास करना (२) अपरिग्रहीतागमन—वेश्या आदि के साथ सहवास करना (३) अनंगक्रीड़ा—अन्य कृत्रिम साधनों से कामसेवन करना (४) परविवाहकरण—अपनी संतति के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को विवाह में प्रोत्साहन देना, रस लेना । (५) कामभोगतीव्राभिलाष—विषयभोगों में तीव्र आसक्ति रखना ।

स्थूल इच्छापरिमाण अपरिग्रह व्रत के पाँच अतिचार—

- (१) क्षेत्रवस्तु के यथापरिमाण का उल्लंघन करना ।
- (२) हिरण्य सुवर्ण के यथापरिमाण का उल्लंघन करना ।
- (३) द्विपद-चतुष्पद के यथापरिमाण का उल्लंघन करना ।
- (४) धन-धान्य के यथापरिमाण का उल्लंघन करना ।
- (५) कुप्य का यथापरिमाण का उल्लंघन करना ।

दिशाव्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं—

- (१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रम करना ।
- (२) अधोदिशा के परिमाण का अतिक्रम करना ।
- (३) तिर्यक्दिशा के परिमाण का अतिक्रम करना ।
- (४) एक दिशा में क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशा में बढ़ाना ।
- (५) स्मृति में मर्यादा मूलने पर आगे बढ़ना ।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार—

- (१) सचित्त का आहार करना ।
- (२) सचित्त-प्रतिबद्धाहार—त्यागी हुई सचित्त वस्तु से मिश्रित का आहार करना ।
- (३) अपक्वाहार अर्थात् अधकच्चे फल या अग्नि पर पूरी तरह से नहीं पके हुए अन्न या फल का उपयोग करे ।



(४) दूषकवाहार—अर्ध पक्व वस्तु का आहार करना ।

(५) तुच्छोषधिमक्षण—जो वस्तु अधिक मात्रा में फेंकने योग्य हो और अल्पमात्रा में खाने योग्य हो ऐसी वस्तु खाना ।

कर्म से पन्द्रह कर्मादान के द्वारा व्यापार करना श्रमणोपासकों के लिए अतिचार स्वरूप है, वह निम्न है^{२५}—

(१) अंगारकर्म—अग्नि सम्बन्धी व्यापार जैसे कोयले बनाना आदि ।

(२) वनकर्म—वनस्पति सम्बन्धी व्यापार जैसे वृक्ष काटना आदि ।

(३) शाटककर्म—वाहन का व्यापार जैसे मोटर, तर्गा आदि बनाना ।

(४) भाटकर्म—वाहन आदि किराये देना ।

(५) स्फोटकर्म—भूमि फोड़ने का व्यापार, जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनाना, मकान बनाना आदि सम्बन्धित

व्यापार ।

(६) दन्तवाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यापार ।

(७) लाक्षावाणिज्य—लाख आदि का व्यापार ।

(८) रसवाणिज्य—मदिरा, गीला गुड़ आदि का व्यापार ।

(९) केशवाणिज्य—बालों व बालवाले प्राणियों का व्यापार ।

(१०) विषवाणिज्य—जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार ।

(११) यन्त्रपीडनकर्म—हिंसक मशीनें बनाकर बेचना ।

(१२) निर्लाञ्छन कर्म—प्राणियों, अवयवों के काटकर बेचने का व्यापार ।

(१३) दावाग्नि बान—जंगल, खेत, पर्वत में अग्नि लगाने का कार्य ।

(१४) सरोहवतडाग शोषणता कर्म—सरोवर, द्रह, तालाब आदि में जल सुखाने का कार्य करना ।

(१५) असतीजन पोषणता कर्म—कुलटा स्त्रियों का पोषण करके उनसे अर्थ लाभ करना एवं हिंसक, चोर आदि अवाञ्छनीय व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना ।

इस प्रकार सातवें उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार एवं कर्म सम्बन्धी पन्द्रह अतिचार कुल मिलाकर बीस अतिचार होते हैं ।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत के पाँच अतिचार निम्न हैं—

(१) कन्दर्प—विकारवर्धक वचन बोलना, सुनना व वैसी चेष्टाएँ करना ।

(२) कोत्कुच्य—भाण्डों के समान हास्य व विकारवर्धक चेष्टा करना ।

(३) मौख्य—वाचालता बढ़ाना, निरर्थक मनगढ़न्त असत्य व कल्पित बातें कहना ।

(४) संयुक्ताधिकरण—अनावश्यक हिंसक अस्त्रशस्त्रों का संग्रह रखना ।

(५) उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना ।

नवम सामायिकव्रत व उसके अतिचार—

(१) मनोबुद्धप्रणिधान—सामायिक के समय मन में आत्मा से अन्य वस्तुओं के संयोग-वियोग की कल्पना करना ।

(२) वचनबुद्धप्रणिधान—सामायिक के समय निरर्थक सावद्य असत्य वचन बोलना ।

(३) कायबुद्धप्रणिधान—शरीर से सावद्य प्रवृत्ति करना ।

(४) स्मृत्यकरण—सामायिक के समय की स्मृति न रखना ।

(५) अनवस्थितता—सामायिक के समय मन में चंचलता रखना ।

दशम देशावकाशिकव्रत व उसके अतिचार—

देशावकाशिकव्रत में देश और अवकाश दो शब्द हैं जिसका तात्पर्य होता है जितने क्षेत्र में आरम्भ-परिग्रह सावद्य व्यापार आदि की सीमा निश्चित की है, उस सीमा क्षेत्र के बाहर व्यापार आदि की कोई प्रवृत्ति न करना । इस व्रत में कुछ समय के लिये भी सावद्य प्रवृत्ति का भी त्याग किया जाता है अथवा प्रतिदिन के लिये कुछ ऐसे दैनिक नियम लिये जाते हैं जिससे अन्य सभी व्रतों का पोषण होता है । इसमें चतुर्दश नियम विशेषतया लिये जाते हैं, वे निम्न हैं—

(१) सचित्त—अन्न, फल, आदि सचित्त वस्तुओं की संख्या नाप, तोल का प्रतिदिन निश्चित करना (२) द्रव्य—खाने पीने की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना । जितने स्वाद पलटे उतने द्रव्य माने जाते हैं, जैसे—पूरी, रोटी आदि (३)

विगय । घृत, तैल, दूध, दही, गुड़ आदि में एक या दो प्रतिदिन कम करना (४) उपानह—चप्पल, बूट, मोजे आदि की संख्या में कमी करना (५) ताम्बूल—पान, सुपारी, चूर्ण, आदि की मर्यादा (६) वस्त्र—प्रतिदिन पहनने की ड्रेसों की संख्या निश्चित करना (७) कुसुम—पुष्पों की जाति व इत्रादि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा (८) वाहन—हाथी, घोड़े, ऊँट, गाड़ी, रेल, मोटर, तांगा, रिक्शा, वायुयान आदि चढ़ने के वाहनों की प्रतिदिन संख्या की मर्यादा (९) शयन—पर्यंक, शय्या की मर्यादा रखना । (१०) विलेपन—केसर, चन्दन, तेल आदि विलेपन की वस्तुओं की मर्यादा (११) अब्रह्मचर्य—अमुक समय के लिये मैथुन का त्याग करना (१२) दिशा—छह दिशा में यातायात की मर्यादा में और संकोच करना (१३) स्नान—स्नान के जल का नाप-तौल रखना, (१४) भक्त—निश्चित समय के लिये भोजनादि का त्याग । इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—(१) आनयन प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मँगाना । (२) प्रेथ प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भोजना । (३) शब्दानुपात—स्वयं ने जिस क्षेत्र में जाने का त्याग किया हो, वहाँ अन्य व्यक्तियों को शाब्दिक संकेत समझाकर कार्य करना, जैसे—अनुचर एवं टेलिफोन आदि से व्यापार करना । (४) रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर अपना चित्र तथा मिट्टी, प्रस्तर, आदि की मूर्ति प्रतिकृति आदि सांकेतिक वस्तुओं के द्वारा कार्य कराना । (५) पुद्गल प्रक्षेप—सीमा से बाहर कंकर, पत्थर, आदि कुछ वस्तु फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना ।

एकादश पौषधोपवास व्रत एवं उसके अतिचार

पौषधव्रत का विशिष्ट उद्देश्य है—आत्मा का पोषण करना । जैसे शरीर की तृप्ति का साधन भोजन है वैसे ही पौषध आत्मा की तृप्ति का साधन है । इस व्रत में शरीर के पोषण के सभी साधनों का परित्याग किया जाता है । इस व्रत की साधना करने के लिये श्रमणोपासक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा आदि एक महिने में निश्चित तिथियों के दिन अष्ट प्रहर आदि अमुक काल के लिये समस्त सांसारिक कार्यों से निवृत्त होता है । इस समय में वह चार प्रकार के आहार का त्याग करता है तथा अब्रह्मचर्य आदि समस्त पापजनक व्यापार का त्याग करके श्रमणवत जीवन साधना करता है । इस व्रत के पाँच अतिचार त्याज्य है वे इस प्रकार हैं—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तारक (२) अप्रमाजित-दुष्प्रमाजित शय्या संस्तारक—इन दोनों का तात्पर्य है पौषधयोग्य स्थान का अच्छी तरह निरीक्षण न करना एवं उसका सम्यक् प्रमार्जन न करना । (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि—बिना देखे या अच्छी तरह बिना देखे लघुशंका आदि के स्थानों का प्रयोग करना । (४) अप्रमाजित-दुष्प्रमाजित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि—मल-मूत्र त्यागने के स्थान को साफ न करना । (५) पौषधोपवास-सम्यगननुपालनता—पौषधोपवास के नियमों का अच्छी तरह से पालन न करना ।

द्वादश अतिथिसंविभागव्रत एवं उसके अतिचार

भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवतुल्य माना है । अतिथि का तात्पर्य है जिसके आने की तिथि निश्चित न हो वह अतिथि है । यह एक सामान्य अर्थ है किन्तु जिस अतिथि को देवतानुल्य माना जाय उस अतिथि का विशिष्टार्थ कुछ अन्य ही है । इस व्रत में सर्वोत्कृष्ट अतिथि 'श्रमण' को माना गया है । उन्हें जैनागमों में धर्मदेव के महत्त्वपूर्ण पद से अलंकृत किया है । श्रमणोपासक बारहवें व्रत में यह नियम अपनाता है कि अपने लिए बनी हुई वस्तु में से एक विभाग अतिथि के लिए रखता है । वह वस्तु चाहे भोजन हो, भवन हो, या वस्त्रादि हो । श्रमण सदैव नहीं आते अतः इस व्रत का उपासक अपने स्वधर्मी अन्य श्रमणोपासकों, दीन-असहायों को भी दान-पात्र समझता है । किन्तु सर्वोत्कृष्ट अतिथि श्रमण को ही माना है । आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में इस सर्वोत्कृष्ट पात्र के उद्देश्य से ही इस व्रत में दान की विशेष विधि, देय-द्रव्य, देने वाला दातार एवं दान ग्रहण करने वाला सत्पात्र इन चार विषयों की विशेषता के कारण दान भी विशिष्ट माना है ।^{२८} जैसे उपजाऊ धरती में बोया गया बीज अनेकगुणा फल देता है । दान लेने वाले सत्पात्र की अपेक्षा इस व्रत से दाता को भी अधिक लाभ है इसीलिये तत्त्वार्थसूत्रकार ने अतिथिसंविभागव्रत का विवेचन करते हुए बताया है कि दाता "अपने अनुग्रह के लिए वस्तु पर स्व का उत्सर्ग करता है अर्थात् ममत्व का त्याग कर निस्वार्थ भाव से जो वस्तु देता है वह दान है ।"^{२९} ऐसे निस्वार्थ भाव से देनेवाले मुधादानी एवं निस्वार्थभाव से लेनेवाले मुधाजीवी दोनों ही महार्थ एवं अतिदुर्लभ है । ऐसे दान दाता और दान लेनेवाले दोनों ही सद्गति के अधिकारी बनते हैं । इस व्रत के पाँच अतिचार हैं । दान के इन पाँच दोषों को देखने से ही यह ज्ञात होता है कि अतिथिसंविभागव्रत में दिये गये दान का वास्तविक अधिकारी श्रमण है, जो मोक्षमार्ग का साधक है एवं स्वपर का उद्धारक है । फिर भी अनुकम्पा से अन्य को देने का निषेध नहीं है ।



अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं, वे ये हैं—

- (१) सचित्त निक्षेप—दान योग्य अचित्त आहार में सचित्त वस्तु मिलाना ।
- (२) सचित्तपिधान—अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक रखना ।
- (३) कालातिक्रम—समय पर दान न देना, असमय में दान की भावना करना ।
- (४) परव्यपदेश—देने की भावना न होने से अपनी वस्तु को दूसरे की कहना अथवा दूसरे की वस्तु को अपनी कहना ।
- (५) मात्सर्य—ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना ।

इस प्रकार गृहस्थधर्म के द्वादश व्रतों के कुल साठ अतिचारों का वर्णन किया है । इनके अतिरिक्त सम्यक्त्व के पाँच अतिचार एवं संलेखना के पाँच अतिचार और हैं उन सभी को सम्मिलित करने पर श्रमणोपासक के जीवन में सत्तर नियमों की एक व्यवस्थित सूची हो जाती है जो कि उसके जीवन उन्नयन के विशिष्ट सोपान हैं । उसमें सम्यक्त्व के पाँच अतिचार निम्न हैं—(१) शंका—आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, मोक्ष—संसार इत्यादि सर्वज्ञकथित तत्त्वों में सन्देह रखना (२) कांक्षा—अपने शुभकृत्य के फल स्वर्गादि की आकांक्षा रखना (३) विविगच्छा—सर्वज्ञकथित श्रमणादि के आचार से घृणा करना । (४) पर-पाखण्डप्रशंसा—जिनोक्त सिद्धान्त से विपरीत तत्त्वों की प्रशंसा करना (५) पर-पाखण्डसंस्तव—मिथ्यावाद का परिचय ।

अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना व उसके अतिचार

जीवन के अन्तिम समय में एक विशेष प्रकार की साधना की जाती है उसे अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना कहते हैं । मरते समय अज्ञानी जीव शारीरिक-मानसिक वेदना से छटपटाते रहते हैं । इस वेदना का एक प्रमुख कारण है, वह है—आसक्ति अर्थात् आत्मा की ममता तन, धन या परिवार के प्रति होती है और जब उनसे वियोग होता है तो आत्मा मानसिक वेदना से दुःखी होता है । किन्तु संलेखनाव्रत में इस दुःख के समूल नाश का उपाय किया जाता है क्योंकि आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होने पर देहादि की आसक्ति कम हो जाती है और मानव हँसते-हँसते मृत्यु का स्वागत कर सकता है । इसीलिए संलेखना का अपर नाम समाधिमरण एवं पण्डितमरण भी है । इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

- (१) इहलोकाशंसाप्रयोग—इस लोक में राजा, श्रेष्ठि इत्यादि पद, सत्ता की आकांक्षा रखना ।
- (२) परलोकाशंसाप्रयोग—संलेखना का तप कर उसके फलस्वरूप परलोक में स्वर्ग, देव, इन्द्र आदि भोगोप-भोगों को पाने की इच्छा करना ।
- (३) जीवित्ताशंसाप्रयोग—बहुत समय जीवित रहने की कामना ।
- (४) मरणाशंसाप्रयोग—रोगादि कष्ट से छूटने के लिए शीघ्र मरने की इच्छा ।
- (५) कामभोगाशंसाप्रयोग—इन्द्रिय-विषयों की तृष्णा रखना ।

श्रमणोपासक की चार विश्रान्तियाँ

स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के लिए चार विश्राम बताये गये हैं ।^{३१} मारवाहक जैसे वस्त्र, काष्ठ, सुवर्ण रत्नादि किसी पदार्थ के भार को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचाता है तो मार्ग में चार विश्राम लेता है । जैसे—भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रखना प्रथम विश्राम, भार को किसी एक स्थान पर रखकर मलमूत्रादि बाधा दूर करना यह द्वितीय विश्राम, नागकुमार सुपर्णकुमार आदि देवस्थान के आवास में अथवा विश्रामगृह या किसी भी धर्मशाला में उपवनादि में ठहरकर भोजनपान करना, घड़ी, प्रहर अथवा रात्रि विश्राम लेना यह तृतीय विश्राम है । भार को यथा-स्थान पहुँचाकर भार से सर्वथा निवृत्त होना यह चतुर्थ विश्राम है । श्रमणोपासक भी ऐसे सांसारिक कृत्यों को अर्थात् तन, धन, परिवार के लिए होने वाले पाप कृत्यों को एक भार बोझ रूप समझता है । अतः उसे दूर करने एवं मुक्ति पाने के लिए वह श्रावकधर्म की विश्राम समझता है । मारवाहक जैसे ही श्रावक जब पाँच अणुव्रतरूप शीलव्रत, तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधादि व्रत ग्रहण करता है, यह प्रथम विश्राम है । जब वह सामायिक एवं देशावकासिक व्रत को सम्यग्यता पालता है तो यह द्वितीय विश्राम है । जब वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा आदि तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करता है तब वह तृतीय विश्राम लेता है । जब वह मृत्यु के अन्तिम समय में अपश्चिम संलेखना को धारण कर लेता है, भक्तपान का प्रत्याख्यान कर देता है एवं काल की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरण

करता है तब चतुर्थ विश्राम होता है। इस प्रकार श्रावक चार तरह की विश्रान्तियों के द्वारा अपने व्रतों की परिपूर्ण आराधना करता है और जैसे भारवाहक भार को यथास्थान पहुँचाकर निवृत्त होता है वैसे ही श्रावक व्रतों के द्वारा अपूर्व आत्म-शान्ति को प्राप्त करता है।

श्रमणोपासकों का श्रमणों के साथ व्यवहार

श्रमणों के साथ श्रमणोपासकों का अनन्य सम्बन्ध होता है। श्रावक के बिना श्रमण का जीवन-निर्वाह असम्भव है। श्रावक श्रमण के जीवन में धर्म की सहायता करते हैं। स्थानांगसूत्र में श्रावकों के सम्बन्ध अनेक तरह के बताये हैं। कुछ सम्बन्ध आचरणीय हैं कुछ सम्बन्ध अनाचरणीय हैं। जैसे कुछ श्रावक श्रमणों के साथ पुत्रवत् वात्सल्य प्रीति रखते हैं वे उनकी सेवा भी करते हैं और उनके चरित्र में दोष देखने पर उन्हें माता-पिता की तरह हितशिक्षा भी देते हैं किन्तु अन्य के समक्ष उनकी निन्दा-विकथा का निवारण करते हैं।³² कुछ श्रावक श्रमणों के साथ भ्राता समान तथा मित्र समान व्यवहार रखते हैं ये तीनों व्यवहार श्रमणोपासकों के लिए उपादेय हैं। पर कुछ श्रावक सौत के सदृश छिद्रान्वेषण करके उनसे ईर्ष्या एवं शत्रुता का व्यवहार करते हैं। यह व्यवहार हेय है। इसी प्रकार स्थानांग में अन्य चार प्रकार के श्रमणोपासकों का भी उल्लेख है। वह इस प्रकार है—आदर्श-दर्पणसदृश, पताकासदृश, स्थानुसदृश एवं खरकण्टक सदृश।³³ इसमें से सर्वप्रथम आदर्श अर्थात् दर्पणसदृश श्रावक आदरणीय होते हैं जैसे दर्पण अपने समीपवर्ती पदार्थों के यथातथ्य प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है वैसे ही श्रावक भी गुरुप्रदत्त तत्त्वज्ञान के उपदेशों को यथावत् धारण करता है। द्वितीय पताकासदृश श्रावक भी अनादरणीय है क्योंकि जैसे ध्वजा-पताका पवन के प्रबल झोंकों से कभी पूर्व तो कभी पश्चिम की ओर उड़ती है इसी प्रकार जो श्रावक सत्य का उपदेश सुनकर कभी उस पर श्रद्धा कर लेता है तो कभी असत्य का उपदेश श्रवणकर उस पर भी श्रद्धा कर लेता है ऐसी चंचल श्रद्धा वाला श्रावक पताकासदृश कहलाता है। जो श्रावक अपने असदाग्रह का कभी त्याग नहीं करता है तथारूप सद्गुणी श्रमणों को भी अपने मिथ्याभिमान के कारण झुकता नहीं है, बंदन नहीं करता है ऐसा ठूठ-स्थानुवत् श्रावक भी हेय है। जैसे खरकण्टक का जो भी स्पर्श करता है उसी को चुभता है इस प्रकार जो श्रावक श्रमणों के प्रति अप्रीतिकारी तीक्ष्ण चुभता काँटे-सा व्यवहार करता है वह श्रावक खरकण्टक कहा जाता है यह व्यवहार भी हेय है, त्याज्य है।

श्रमणोपासक के तीन मनोरथ

जिस प्रकार साधारण व्यक्ति अनेक वस्तुओं की प्राप्ति की आकांक्षा किया करते हैं। जैसे—मुझे इतना धन प्राप्त हो, पुत्र हो, महल हो, उपवन हो, मुझे श्रेष्ठि, राजा इत्यादि उच्च पद प्राप्त हो। किन्तु श्रमणोपासक इन सभी वस्तुओं को अपनी नहीं मानता है चाहे वह राजा के सम्माननीय सिंहासन पर हो तब भी उसे अनित्य मानता है। उसे संसार की किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती। किन्तु उसे जो इच्छाएँ होती हैं वे इतनी उत्कृष्ट होती हैं कि उनकी सफलता होने पर उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। प्रथम मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि कब मैं अल्प या बहुत अधिक परिग्रह का परित्याग करूँगा। यह चिन्तन सांसारिक जीवों से सर्वथा विपरीत है क्योंकि सांसारिक आत्मा सदैव धन-सम्पत्ति पाने की तृष्णा में उलझा रहता है किन्तु श्रमणोपासक मुक्ति का साधक होता है और वह इन सांसारिक वस्तुओं को दुःखरूप मानता है। जब इनसे निवृत्त होता है तब वह आत्म-शान्ति का अनुभव करता है। द्वितीय मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि कब मैं गृहस्थ अवस्था का त्याग करके सम्पूर्ण पापों से रहित अनगार बनकर विचरण करूँगा। तृतीय मनोरथ में श्रावक यह चिन्तन करता है कि—कब मैं जीवन के अन्तिम समय में अश्विचम मारणान्तिक संलेखना जोषणाजोषित करके काल अर्थात् मृत्यु की इच्छा से भी रहित होकर विचरण करूँगा। इस प्रकार इन तीनों मनोरथ में किसी भी सांसारिक वस्तु की कामना नहीं है किन्तु सांसारिक वस्तुओं से परित्याग की भावना है अतः इन मनोरथों को चिन्तन करने वाला श्रमणोपासक अपने पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करके उसके फल-स्वरूप महापर्यवसान अर्थात् भव भ्रमण को परम्परा का अन्त कर देता है क्योंकि जिसकी जैसी भावना होती है उसका फल वैसा ही होता है। “यादृशी भावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी” इस उक्ति के अनुसार श्रावक इस भावना को जब मन, वचन, काया से प्रत्यक्ष रूप में प्रकट करता है तब वह संसार का अन्त कर सिद्धि प्राप्त करता है।

श्रमणोपासकों की धर्मदृढ़ता

श्रमणोपासक एक बार जिन व्रतों को ग्रहण करता है, उस प्रतिज्ञा को जीवन भर पालन करता है। यदि उस प्रतिज्ञा से उसे कोई देव, दानव या मानव विचलित करना चाहे तब भी वह चलित नहीं होता। उसकी श्रद्धा सुमे-



वत् स्थिर रहती है जैसे सुमेरु प्रलय-पवन चलने पर भी हिल नहीं सकता इसी प्रकार श्रावक भी किसी भय अथवा प्रलोभन से अपने धर्म का परित्याग नहीं करता है। उपासकदशाङ्ग सूत्र के अनुसार कामदेव श्रावक अपने धर्म पर इतना सुदृढ़ था कि स्वयं भगवान महावीर ने उसकी प्रशंसा की। कामदेव श्रावक जब एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में धर्म-जागरणा कर रहा था उस समय उसके सम्मुख एक भयंकर रूपधारी पिशाच प्रकट हुआ। उसने अपने हाथों में तीक्ष्ण तलवार नचाते हुए कहा—अहो ! कामदेव ! यदि आज तुम अपने शीलव्रत प्रत्याख्यान पौषधोपवास का परित्याग नहीं करोगे तो मैं इस तलवार के द्वारा तुम्हारी देह के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा जिससे असमय में ही तुम मृत्यु को प्राप्त करोगे। इस प्रकार तीन बार कहने पर भी कामदेव अपने धर्म से विचलित नहीं हुआ तब उस देव ने कामदेव के तन के टुकड़े-टुकड़े करके फिर यथावत् कर दिया, हाथी का रूप बना आकाश में उछाला, दन्तचूलों पर झेला, पैरों तले रौंदा, विशाल-काय सर्प बनकर हृदय पर डंक लगाया तथापि वह चलित नहीं हुआ तब वह पिशाच एक दिव्य रूप धारण करने वाला देव बना उसके अंग प्रत्यंगों पर किरीट कुण्डल कंगन आदि रत्नाभूषण चमक रहे थे और पैरों व कमर में स्वर्ण घुंघरू बज रहे थे। उसकी देह वस्त्र तथा आभूषणों के प्रकाश से प्रकाशित हो रही थीं। उस देव ने कामदेव की प्रशंसा करते हुए कहा³⁴—कामदेव ! तुम धन्य हो, पुण्यवान हो, कृतार्थ हो, कृतकृत्य हो कृतलक्षण हो, तुम्हें मनुष्य-जीवन का सुफल प्राप्त हुआ है, तुम्हारा जन्म सार्थक हो गया है, तुम्हारी निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर ऐसी अटूट श्रद्धा है। देवानुप्रिय ! स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र ने तुम्हारी धर्मश्रद्धा की प्रशंसा की है कि उसकी श्रद्धा को बदलने में कोई भी देव, दानव, गन्धर्व समर्थ नहीं है। वह कभी भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से चलित, क्षुभित एवं उससे विपरीत भाव नहीं कर सकता है। इन्द्र की उस बात पर श्रद्धा न करके तुम्हारी परीक्षा लेने आया था और मैंने तुम्हारी धर्मश्रद्धा को प्रत्यक्ष देखा है अब तुम मेरा अपराध क्षमा करो। इस प्रकार नमन कर वह देव स्वस्थान को चला गया इस प्रकार देव, असुर, मनुष्य तिर्यञ्च आदि के द्वारा अनेक श्रावकों की धर्मदृढ़ता की परीक्षाएँ हुईं किंतु वे अपने धर्म में ध्रुव तारे की तरह अटल रहे यद्यपि श्रमणोपासक देवादि के भयंकर उपसर्गों में भी अटल रहता है तथापि आगमों में उसके लिए आठ आगारों का वर्णन मिलता है पर ये आगार केवल बाह्य दृष्टि से लोक-व्यवहार की शुद्धि के लिए रखे होंगे इन आगारों के समय भी उसकी आन्तरिक श्रद्धा अणुमात्र भी जिन प्रज्ञप्त धर्म से विपरीत नहीं हो सकती है। अन्य मिथ्या देव, गुरु व धर्म का स्वीकार बिना मन से वह विशेष परिस्थितियों के समय करता है। जैसे कि कार्तिक सेठ ने राजा की आज्ञा से तापस को अपनी पीठ पर खीर की स्वर्णथाल रखवाकर भोजन करवाया। उसने अच्छी तरह से स्पष्टीकरण कर दिया कि मैं राजाज्ञा से ही तपस्वी परिव्राजकका आदर-सम्मान कर रहा हूँ वास्तव में न इनको अपना गुरु स्वीकार करता हूँ और न इनको गुरु व धर्म मानकर नमस्कार ही करता हूँ। मैं एक गृहस्थ हूँ इस अवस्था में राजाज्ञा की अवहेलना करना मेरा कर्तव्य नहीं है। फिर भी गुरु तो मैं उन्हीं को स्वीकार करता हूँ जिनमें पञ्च महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति आदि जिनोक्त सत्ताईस मूलगुण हों। इसी प्रकार देव, गुरु व धर्म की मिथ्या मान्यता को वह कभी स्वीकार नहीं करता। स्वीकार न करने पर भी ये आगार व छूटें विशेष परिस्थिति को संलक्ष्य में रखकर रखी हैं।

श्रमणोपासकों के कुछ विशिष्ट गुण —

श्रमणोपासकों के कुछ गुण ऐसे विशिष्ट होते हैं जिन्हें प्रमुखता प्रदान की जाती है। भगवतीसूत्र में कुछ प्रत्याख्यान ऐसे बताये गये हैं जिन्हें मूलगुण प्रत्याख्यान कहते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें उत्तर गुण कहते हैं।³⁵ मूल गुण वृक्ष के मूल की भाँति हैं और उत्तरगुण उसके पत्र, पुष्प व फल की तरह हैं। मूल नष्ट होने पर पत्र, पुष्प व फल की आशा नहीं रहती है। मूलगुण प्रत्याख्यान के दो भेद हैं—सर्वमूलगुण व देशमूलगुण प्रत्याख्यान। उसमें देशमूलगुण प्रत्याख्यान के पाँच भेद हैं—स्थूल प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण स्थूलमैथुनविरमण एवं स्थूल परिग्रहविरमणव्रत। इसी प्रकार देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान के सात भेद हैं, वे इस प्रकार हैं—दिशिपरिमाण, उपभोग, परिभोगपरिमाण, अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, पौषधोपवास, अतिथिसंविभाग, अपश्चिममारणन्तिक संलेखना-क्षसणा आराधना। यह श्रमणोपासकों के मूलगुण व उत्तरगुण हैं। इन गुणों के अतिरिक्त श्रावकों के अन्य आवश्यक गुणों का वर्णन भगवती के द्वितीय शतक पञ्चम उद्देशक तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों के वर्णन में है।³⁶ वे विराट सम्पत्ति के अधिपति थे, साथ ही वे जीव-अजीव के ज्ञाता, यथायोग्य पुण्य-पाप को उपलब्ध करने वाले, आस्रव, संवर निर्जरा, क्रिया, अधिकरण व बन्ध-मोक्ष में कुशल थे। उनकी निर्ग्रन्थ प्रवचन पर इतनी सुदृढ़ श्रद्धा थी कि वे देव असुर नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किलर किम्पुरुष, गरुड़ गंधर्व, महोरग, आदि देवगणों से भी उनकी श्रद्धा अतिक्रमण नहीं होती थी। तथा उनकी कर्मवाद में ऐसी आस्था थी कि वे देवादि की सहायता भी स्वीकार नहीं करते थे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति वे पूर्ण निशंक निष्कांक्ष तथा निर्विचिकित्सक थे अर्थात् धर्म के प्रति अरुचि एवं अप्रीति से रहित थे। उन्हें

परमार्थ की उपलब्धि होने से वे लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्ठार्थ एवं विनिश्चितार्थ थे। उनकी अस्थियाँ निर्ग्रन्थ धर्म के अनुराग से रज्जित थीं। जब परस्पर धर्मचर्चा करते तो वे धर्म की प्रशंसा करते हुए कहते—आयुष्मान् ! इस असार विश्व में एक निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सारभूत है, यही परमार्थ है इसके अतिरिक्त तन-धन इत्यादि समस्त वस्तुएँ तथा इसके विपरीत अन्य मत-मतान्तर निस्सार है, अनर्थ स्वरूप हैं। उनका हृदय स्फटिकमणि की तरह अत्युज्ज्वल था, उनके गृहद्वार दान देने के लिए नित्य अनावृत रहते थे। राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने पर भी उनके चरित्र पर किसी को अविश्वास नहीं था। वे बहुत शीलव्रत गुणव्रत विरमण प्रत्याख्यान एवं पीषध सहित उपवास करके दोनों अष्टमो चतुर्दशी पूर्णिमा अमावस्या इन षट् तिथियों में धर्म की सम्यक् आराधना करते थे।

श्रमण निर्ग्रन्थों को वे प्रासुक एषणीक अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र प्रतिग्रह-पात्र, कम्बल, पाद प्रोच्छन का वस्त्र विशेष, पीठफलक—सोने बैठने के पाट विशेष, शय्या, निवास करने का मकान तथा बिछाने का पलाल तृण शय्या इत्यादि श्रमणोपयोगी साधनों का दान करके उनकी सेवा उपासना करते थे। इस प्रकार दान, शील, तप आदि की यथाशक्ति आराधना करते हुए आत्मा में रमण करते थे।

श्रमणोपासकों के प्रत्याख्यान के विविध भेद

श्रमण के प्रत्याख्यान संपूर्ण होते हैं किन्तु श्रमणोपासकों के प्रत्याख्यान अपूर्ण और संपूर्ण अनेक भेद वाले होते हैं। भगवती में इसी अपेक्षा से श्रावकों के प्रत्याख्यान के उनन्वास भेद बताये हैं। उसमें तीन योग और तीन करण से किया गया एक भंग सम्पूर्ण है शेष सभी अपूर्ण हैं। जैसे—मन-वचन-काया इन तीन योगों से पाप कृत्य करना नहीं, कराना नहीं व अनुमोदन नहीं करना यह भंग मूल है। शेष एक करण एक योग, दो करण एक योग, तीन करण एक योग इत्यादि भंग बनते हैं। उनके अंक हैं—११-१२-१३।२१-२२-२३।३१-३२-३३

श्रमणोपासकों की गति

श्रमणोपासक की कभी दुर्गति नहीं होती है। क्योंकि उसके कर्म शुक्लपक्षी चन्द्र की तरह अत्युज्ज्वलता की वृद्धि करते हैं। यद्यपि उसमें अप्रत्याख्यान का कुछ कृष्णावरण अवशेष रहता है तथापि उसका लक्ष्य अन्धकार नहीं प्रकाश है। श्रमणोपासक मोहनीयकर्म की एकादश कर्म प्रकृतियों का क्षयोपशम करता है अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानी कषाय के चार-चार भेद, दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय एवं सम्यक्त्वमोहनीय की तीन प्रकृति। नरक और तिर्यंच की आयु, अनन्तानुबन्धीकषाय तथा अप्रत्याख्यानीकषाय के उदय में बँधती है। इन कषायों के अभाव में नरक-तिर्यंच की आयु का बंध नहीं होता है। भगवती के प्रथम शतक में श्रावक की आयु बँधने के विषय में प्रश्न किया गया है।³⁶ उसमें श्रावक को बालपण्डित बताया है इसका कारण है उसमें दो चौकड़ी कषाय का सद्भाव है इसलिये वह बाल है तथा दो चौकड़ी कषाय का अभाव है इसलिये उसे पण्डित कहा गया है। जब तक उसमें पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती तब तक वह पूर्णचन्द्र की तरह पूर्ण नहीं कहलाता है और पूर्ण वीतराग होने पर तो किसी भी गति का आयु बन्ध होता ही नहीं है। इसीलिये श्रमणोपासक अपनी माधना को यदि उसी सीमा तक रक्खे उससे आगे न बढ़ सके तो “उसे नरक-तिर्यंच-मनुष्य इन तीन गति की आयु नहीं बँधती है एकमात्र देवगति का आयुष्य बँधता है।” देवायु पूर्ण होने पर आनन्द कामदेवादि श्रावकों की तरह अनेक श्रमणोपासक मनुष्य का एक भव और करके मुक्ति प्राप्त करते हैं। देवायु बन्ध का क्या कारण है। श्रमणोपासक उसी जीवन में मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं करता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण ब्राह्मण के समीप एक भी आर्यधर्म का सुवचन सुनकर हृदय में धारण करता है और कुछ अंश में संसार के विषय अर्थात् देह-इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति प्राप्त करता है, कुछ अंश में देशतः अविरक्त रहता है। देशतः अर्थात् कुछ अंश में प्रत्याख्यान करता है कुछ अंश में प्रत्याख्यान नहीं करता है। इसीलिये इस देशविरक्ति के कारण वह न तो नरक का आयुष्य बाँधता है न तिर्यञ्च का न मनुष्य का किन्तु एक मात्र देवायु का बंध करता है।

कुछ आदर्श श्रमणोपासक

तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की थी—श्रमण, श्रमणी, श्रमणोपासक एवं श्रमणोपासिका। उसमें से गौतम आदि चौदह सहस्र श्रमण थे। चन्दनबाला आदि छत्तीस सहस्र श्रमणियाँ थीं। आनन्द प्रमुख एक लक्ष उनसठ सहस्र श्रमणोपासक थे, और जयन्ती आदि तीन लक्ष, अट्टारह सहस्र श्रमणोपासिकाएँ थीं।



भगवती, उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में यत्र-तत्र अनेक श्रमणोपासकों की गौरव गाथाएँ अंकित हैं। जिससे उनके गम्भीर अध्ययन का भी पता चलता है। उदाहरण स्वरूप देखें—

ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक

ऋषिभद्रपुत्र श्रावक आलम्बिका नगर का निवासी था। एक बार श्रमणोपासकों की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उसने कहा कि देवताओं की जघन्य स्थिति दस सहस्र वर्ष की है और उससे एक समय अधिक दो समय अधिक तीन समयाधिक ऐसे संख्यात असंख्यात समयाधिक बढ़ाते हुए उत्कृष्ट स्थिति तैत्तिरीय सागरोपम की है उससे आगे अधिक स्थिति के न कोई देव हैं, न देवलोक हैं उससे आगे देवलोक विच्छिन्न हैं। किन्तु ऋषिभद्र श्रावक के प्रस्तुत उत्तर पर अन्य श्रावकों को श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई। वे स्वस्थान गये। कुछ समय के पश्चात् नगर में श्रमण भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। सभी श्रावक भगवान् को वन्दनार्थ उपस्थित हुए, प्रवचन सुना एवं अपनी शंका उनके सामने रखी। महावीर ने कहा—ऋषिभद्रपुत्र ने देवताओं की जो स्थिति बतलाई है वह सर्वथा सत्य है, मैं भी ऐसा ही कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ। वे श्रमणोपासक भगवान महावीर से यह सुनकर ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के पास गये, वन्दन कर क्षमा-याचना की। गौतम गणधर ने ऋषिभद्र श्रावक के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया—यह श्रमण बनेगा या नहीं? भगवान महावीर ने कहा—नहीं श्रावक जीवन में ही तीन दिन का अनशन करके प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होगा। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य बन कर सिद्ध बुद्ध एवं मुक्त होगा।^{३९} इसी प्रकार शंख पुष्कली, मद्रुक श्रावक, पिंगलक निर्ग्रन्थ, जयन्ती श्रमणोपासिका, आनन्द, कामदेव, चुल्लनीपिता, सुरादेव, कुण्डकोलिक, सकडाल पुत्र, महाशतक, नन्दनीपिता, सालिहीपिता आदि अनेक श्रावक हैं। विस्तार भय से उन सभी का वर्णन यहाँ नहीं दिया गया है।

बहुत ही संक्षेप में मैंने आगम साहित्य के आलोक में श्रावकाचार के सम्बन्ध में चिन्तन प्रस्तुत किया। श्रावकाचार पर आगम साहित्य के पश्चात् श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा के मूर्धन्य मनीषी गणों ने अत्यधिक साहित्य का निर्माण किया है। आगम साहित्य में जो बातें सूत्र रूप में बताई गईं उन्हीं पर बाद में बहुत ही विस्तार से लिखा गया। आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में भी हम चिन्तन करें तो श्रावक के नियमोपनियम की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी अतीत काल में थी। मेरी दृष्टि से उससे भी अधिक आवश्यकता है जीवन को शान्त और आनन्दमय बनाने के लिए।

सन्दर्भ एवं सन्दर्भ स्थल—

- १ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या आत्मा ब्रह्मैव नापरः।
- २ पंचविहे आयारे पन्नत्ते तं जहा—नाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियारे
—ठाणांग, ५ वां स्थान, उद्देशक २
- ३ जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो ह्व संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥
—उत्तरा० गाथा १६
- ४ खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥
—उत्तरा० गाथा १३
- ५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।
—तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १, सूत्र १
- ६ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १, सू० २
- ७ “मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्।
= नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुपत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गई ॥
—उत्त० २८, गाथा ३
- ८ नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं ॥
—उत्त० अ० २८, गा० ११
- १० देशसर्वतोऽणुमहती।
—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७, सू० २
- ११ दुविहे धम्मे—सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव।
—ठाणांग, सू० २ ठा०
- १२ वही, स्था० २।२
- १३ पुच्छिस्सुणं समणा माहणाय, ‘आगारिणो’ य परतित्थियाय”।
—सूत्रकृतांग अ० ६
- १४ श्रद्धालुतां श्राति पदार्थं चिस्तनाद्, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना, दत्तोपि तं श्रावक माहुरुत्तमा ॥”
—श्राद्धविधि शा० श्लो० ३

- १५ चम्पाए पालिए नाम, 'सावए' आसि वाणिओ ।
महावीरस्स भगवओ सीसे सोउ महप्पणो ॥ —उत्त० अ० २१
- १६ (क) तत्थणं सावत्थीए नयरीए बहुवे संखप्पामोक्खा समणोवासगा परिवसन्ति —मग० सू० श० १२ उ० १
(ख) समणोवासए जाए अभिगय जीवाजीवे उवलद्ध पुण्णपावे ।
- १७ तएणं से आणन्दे गाहावइ समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तिए तप्पढमाए थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ।
- १८ जीव सुहुमथूला संकप्पा आरम्म भवे दुविहा ।
सावराह-निरवराह सविक्खा एव निरविक्खा ॥
- १९ तयाणन्तरं च णं थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ जावज्जीवाए ।
- २० उपासकदशा १, २१ उपासकदशा १, २२ उपासकदशा १,
२३ उपासकदशा १, २४ वही, २५ वही
- २६ उपासकदशा १,
- २७ रूवाणुवाए बहिया पोगल पक्खेवे"—उपासकदशा
- २८ विधिद्रव्यदातृपात्र विशेषात् ।
- २९ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।
- ३० उपासकदशा १,
- ३१ भारं णं बहुमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता । —स्थानांग ४
- ३२ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता तंज हा—अम्मापिउसमाणे, भाईसमाणे, मित्तसमाणे, सवत्तिसमाणे ।
—स्थानांगसूत्र, ठाणा ४
- ३३ स्थानांग सू० ठा० ४
- ३४ तिहि ठाणेहि समणोवासए महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ । —स्थानांग ३
- ३५ उपासकदशांग
- ३६ कइविहे णं भन्ते पच्चक्खाणे पन्नत्ते ? गोयमा दुविहे पन्नत्ते तं जहा—सव्वमूलगुण पच्चक्खाणे य देसमूलगुण पच्चक्खाणे य ॥ —भगवती सूत्र
- ३७ "असहेज्जदेवामुरनागमुवण्णजक्खरक्खस्सकिन्नर किपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगाएहिदेवगणेहिनिग्गंथाओ पावयणाओ अण-
तिक्कमणिज्जा णिग्गंथे पावयणे निस्सकिया निक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा, लद्धटा गहियट्टा, पुच्छियट्टा, अभिगयट्टा,
विणिच्छियट्टा अट्ठिमज्जेमाणुरागरत्ता अयमाउसो निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उसियफलिहा,
अवंगुयदुवारा, चियंतंतेउरधरप्पवेसा बहूहि सीलव्वयगुणवेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहि चाउदसट्टमुदिट्ट
पुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा"
- भगवतीसूत्र श० २ ग० २५
- ३८ भगवती श० १ उ० ८
- ३९ भगवती सू० श० ११ उ० १२



—पुष्कर वाणी—

सांप बिल में अकेला रहता है, बिल में प्रवेश करते समय बिलकुल सीधा हो जाता है। कैंचुली के साथ अनासक्त वृत्ति रखता है, उसे छोड़ देता है। अपने लक्ष्य (भक्ष्य) पर दृष्टि टिकाए रखता है।

साधक को सांप से शिक्षा प्राप्त होती है। कहीं भी रहे, मन में एकाकी वृत्ति रखे, व्यवहार में सदा सरल और सीधा रहे। कैंचुली की तरह देह को मित्र समझकर उससे अनासक्त रहे और अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहे।

